ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
ISSN No.: 2347-2944, RNI:UPBIL04292, REG. No.: 561/2013-2014 Vol.-2, No.-2, PP-365-368,YEAR-2015

भक्ति काव्य : आलोचना का विवेक सम्मत पाठ

❑ डॉ0 मुन्ना तिवारी

सार – *साहित्य जितनी अधिक जीवन की अनुभूति है उससे अधिक जीवन की आलोचना है। साहित्य को एक जीवंत गतिशील प्रक्रिया और रचनाकर्म को सामाजिक व्यवहार का एक विशिष्ट रूप मानने के बाद रचनाकार, रचना, पाठक और उनके सामाजिक संदर्भ का आपसी संबंध नए रूप में हमारे सामने आएगा। इसके बाद ही समाज की व्यापक इतिहास प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य के सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार के अंग के रूप में साहित्य की विकासशीलता का अनुशीलन हो सकता है। लेकिन इस संदर्भ में यह याद रखना चाहिए कि साहित्य को सामाजिक– सांस्कृतिक व्यवहार का अंग समझते हुए उसके विशिष्ट स्वरूप पर भी ध्यान देना जरूरी है। तभी साहित्यक्षेत्र के आंतरिक परिवर्तनों की व्याख्या हो सकेगी और रचनाओं की अस्मिता के साथ–साथ उनके अस्तित्व की परिस्थितियों का भी विष्लेशण हो सकेगा। इसके लिए यह जरूरी है कि सामाजिक व्यवहार के विकास के सिद्धांत के समानांतर ही चेतना के विकाशील स्वरूप पर भी ध्यान दिया जाए, क्योंकि केवल सामाजिक व्यवहार के विकास के सिद्धान्त से ही साहित्यक्षेत्र के आंतरिक परिवर्तनों (साहित्यिक आंदोलनों, प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों, शैलियों ओर नए रूपविधानों) की व्याख्या नहीं हो सकती।[1] आलोचना और इतिहास दोनों की चिंता का मुख्य विषय रचना ही है और रचना अंततः रचनाकार की चेतना ही संवदेनशीलता, कल्पनाशक्ति और सृजनशीलता का ही फल है। सामाजिक व्यवहार के परिवर्तन के साथ–साथ चेतना के विकास की व्याख्या करने से ही परिवेश और चेतना के संबंध का बोध प्रकट होगा और रचनाकार की चेतना की सृजनशीलता की व्याख्या भी हो सकेगी। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार, उससे प्रभावित होनेवाली चेतना और उस चेतना की सृजनशीलता से उत्पन्न होने वाले साहित्य की विकासशीलता का समन्वित अनुशीलन हो सकेगा।*

रचनाकर्म को सामाजिक व्यवहार का अंग मानने पर रचना के अंतर्जगत और उसके परिवेश का संबंध स्पष्ट होगा और व्यापक जीवनमूल्यों से रचना के सौंदर्यबोधी मूल्यों की सापेक्षता भी प्रकट होगी। इस प्रक्रिया के अंतर्गत रचना की विशिष्टता और उसकी सामाजिकता में एकता स्थापित होगी और आलोचना तथा इतिहास का अलगाव भी दूर होगा। आलोचना और इतिहास में रचनाओं पर विचार करते समय अगर अंतर्वस्तुसंबंधी अन्वेशणों और रूपसंबंधी आविष्कारों का विवेचन न हो सके, प्रयोगों और परिवर्तनों के बीच से गुजरने वाली निरंतरता की खोज न हो सके और इनके मूल स्रोत सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक संदर्भ से इनका संबंध प्रकट न हो सके तो ये दोनों सारी तैयारी और दावों के बावजूद पाठकों के साहित्य विवेक के निर्माण के लिए अनुपयोगी ही साबित होंगे।[2]

भक्ति, भक्तिकाव्य और भक्तिशास्त्र के साथ भारतीय संस्कृति–दर्शन– धर्म और साहित्य के कई प्रश्न जुड़े हुए हैं। इन प्रश्नों के साथ एक प्रश्न और जोड़ दिया जाता है– आध्यात्मिकता का प्रश्न और फिर भारतीय–संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति कहकर उसके चिन्तन के सभी भौतिक–सामाजिक प्रश्नों को दरकिनार कर दिया जाता है। पश्चिमी प्राच्यविदों ने भारतीय भक्ति–चिन्तन के साथ बड़ा अन्याय किया है

सह आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री भगवान महावीर पी.जी. कॉलेज, पावानगर, फाजिलनगर, कुशीनगर, (उ0प्र0) भारत

और पूरी नासमझी के साथ अन्याय। यह अन्याय हृदय में पीड़ा पहुँचाता है। भारतीयों को 'आध्यात्मिकता' में धकेलकर अपनी राजनीति करना पश्चिमी उपनिवेशवादियों का पुराना खेल रहा है। समय आ गया है कि इस उत्तर औपनिवेशिक समाज में हम उनकी कपटी–राजनीति का भण्डाफोड़ करें। हिन्दी–साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस अध्यात्मवादी पश्चिमी राजनीति की बखिया उधेड़ते हुए माना है कि यह भारतीय चिन्तन–परम्परा के तेज को कुन्द करने के लिए की गयी 'सोची–समझी राजनीति' थी। पूरी विवेक–वयस्कता के साथ आचार्य शुक्ल ने काव्य और साहित्य में अध्यात्मवाद का विरोध किया। साथ ही 'रहस्यवाद' के झूठे प्रचार का जोरदार खण्डन।[3]

भक्ति–काव्य और भक्तिशास्त्र को भारतीय लोक–परम्पराओं, लोक–मिथकों विश्वासों, प्रतीकों, आख्यानों, गाथाओं, दार्शनिक आधारों के साथ मिलाकर समझने की जरूरत है। अलग–अलग तोड़कर समझने पर उनकी समग्रता खण्डित हो जाती है और पूरा भाव वृत्त बिखर जाता है। इसलिए भक्तिकाव्य–भक्तिरस को अखण्डता में ग्रहण करना चाहिए। प्रकृति–पुरूश की अभेदकता को प्रतिपादित करनेवाले इस देश के चिन्तन में एक चीज दूसरी चीज से जुड़ी है– विच्छिन्न नहीं है। साहित्य व्याकरण से, व्याकरण दर्शन से, दर्शन धर्म से, धर्म अध्यात्म से, अध्यात्म पराविधाओं से। अतः रस–दर्शन, भक्ति–दर्शन को अखण्डता–निरन्तरता और परिवर्तन के युग–सन्दर्भों में व्याख्यायित–विश्लेशित करना चाहिए। ऐसा न करने पर न भक्तिशास्त्र के साथ न्याय होगा न भक्ति–रस के साथ। प्राचीन और नवीन का संवाद 'परम्परा' के तिरस्कार से नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों 'निरन्तरता' के सहभागी हैं। एक–दूसरे में अन्तर्व्याप्त।[4]

कुल मिलाकर भक्तकवियों की जैसी विराट् रचना दृश्टि और सृष्टि है, वैसी ही उसकी विस्तृत मीमांसा हिन्दी आलोचना में सम्पन्न हुई है। हिन्दी आलोचना का विकास और मिजाज जैसा भक्तिकाव्य के मूल्यांकन प्रसंग में परिलक्षित होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। कहना न होगा कि व्यावहारिक हिन्दी समीक्षा जैसे–जैसे प्रौढ़ विकसित होती गई है वैसे–वैसे भक्तिकाव्य के मूल्यांकन में गुणात्मक परिवर्तन होता गया है। भक्तिकाव्य की वस्तुगत संश्लिष्टता तथा उसके विलक्षण रचना–विधान की व्याख्या हिन्दी आलोचकों के लिए शुरू से ही चुनौतीपूर्ण रही है। भक्तिकाव्य की आरम्भिक समीक्षा में गुणदोश विवेचन, निर्णयात्मक श्रेणी विभाग, इतिवृत्तात्मकता एवं उपयोगितावाद की कसौटी पर विषेश बल दिया गया है, जो भक्तिकालीन रचना–प्रक्रिया की बाह्य प्रवृत्ति पर केन्द्रित थी। सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाव्य के संश्लिश्ट स्वरूप की व्याख्या राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय एवं समसामयिक संदर्भों में करते हुए 'अन्तःप्रवृत्ति' की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने भक्तकवियों की रचना–प्रक्रिया को अपने मूल्यांकन का आधार बनाया और भक्तकवियों के रचना–युग तथा उनके रचना–संसार की बाहरी भीतरी परिस्थितियाँ, समाज, धर्म, दर्शन एवं जातीय दृश्टि को विष्लेशित करते हुए समूचे भक्ति साहित्य के प्रति दृष्टिकोण का आधुनिकीकरण किया। द्विवेदी ने कालांतर में आचार्य शुक्ल की भक्तिकाव्य सम्बन्धी समीक्षा को लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना प्रस्थान भेद स्पष्ट किया। उन्होंने भक्तिकाव्य को भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास और नाथों, सिद्धों से चली आ रही भारतीय साहित्य की परम्परा का विकसित रूप तथा अपने समय के व्यापक जनआन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य माना, पर भक्तिकाव्य की समीक्षा प्रक्रिया के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह बात अलग है कि किसी एक प्रवृत्ति या दृष्टि को केन्द्र में रखकर शुक्लोत्तर समीक्षकों ने भक्तिसाहित्य के प्रसंग में कुछ नई सामग्री सुझाई है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा में कोई ऐसी संश्लिश्ट आलोचना पद्धति विकसित नहीं हो सकी जो समूचे भक्तिसाहित्य को एक नई दृष्टि से मूल्यांकित करने का प्रतिमान प्रस्तुत कर सकी हो

फिर भी, शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षकों ने भक्ति साहित्य को विविध रूपों में विष्लेशित किया है।[5] मार्क्सवादी संवेदना, समाजशास्त्रीय विश्लेशण, समाजवादी यथार्थवाद, नव्य स्वच्छन्दतावाद, लोकसाहित्य, आधुनिकता, भाषिक संवेदना, फैंटेसी, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, रूपवाद, मिथकीय चेतना, सौन्दर्यशास्त्रीय विष्लेशण, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विभिन्न अवयवों आदि दृष्टियों से शुक्लोत्तर समीक्षकों ने भक्तिकाव्य की मीमांसा की है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी आलोचना की पूरी सम्पदा का अधिकांश भाग भक्ति साहित्य से सम्बन्धित है। भक्ति साहित्य सम्बन्धी आलोचना सम्पदा यदि अलग कर दी जाये तो हिन्दी आलोचना का भण्डार रिक्त सा दिखेगा। कारण स्पष्ट है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी में ऐसा चुनौतीपूर्ण और विस्तृतफलक वाला साहित्य नहीं लिखा गया, जिससे टकराने की ललक हर समीक्षक या रचनाकार में पैदा हो सके। भक्ति साहित्य इतना संश्लिष्ट और विविधि आयामों वाला है कि आलोचना प्रक्रिया के सभी पूर्व निर्धारित प्रतिमान उसके मूल्यांकन के लिए अधूरे पड़ जाते हैं और इसीलिए हर नये युग को भक्ति–साहित्य के विवेचन के लिए नयी दृष्टि विकसित करनी होती है तब व्यावहारिक हिन्दी समीक्षा के जो प्रतिमान हैं, उनका आधार अधिकतर भक्तिसाहित्य है। यही कारण है जिससे आधुनिक काव्य या साहित्य के समीक्षक भी भक्तिकाल से टकराए बिना रह नहीं सकते।[6]

आधुनिकता की धारणा मध्ययुगीन धारणाओं और ढांचों को तोड़ती है या अपदस्थ करती है और इसकी जगह नए शब्दों या प्रत्ययों को गढ़ती है। मसलन आधुनिकता की धारणा में मध्ययुगीन ब्रह्मा के स्थान पर केंन्द्र में मनुष्य आता है। विश्वास और आस्था के स्थान पर तर्क और विवेक, धर्म के स्थान पर विज्ञान, जगत के स्थान पर समाज, जीवन के स्थान पर व्यक्ति और शास्त्र के स्थान पर इतिहास आते हैं। अब यदि हम आधुनिक दृष्टि को केन्द्र में रखकर मध्ययुगीन साहित्य को पढेंगे तो हमें उसमें दोनों की टकराहट मिलनी चाहिए। मसलन मध्ययुगीन साहित्य में जो ब्रह्म है, आधुनिक दृष्टि के मनुष्य से कब और कहां टकरा रहा है ? मध्ययुगीन आस्था, धर्म और जगत कैसे विवेक, विज्ञान, समाज और इतिहास से टकरा रहे हैं, इसकी जानकारी हमें मिलनी चाहिए क्योंकि जब तक हमारे अध्ययन, पठन–पाठन और संवेदना में यह टकराहट नहीं पैदा होती, हम उसे वास्तविक रूप में नहीं समझ सकते। इसलिए मध्ययुगीन साहित्य को पढ़ते हुए हमारी टकराहट दोगुनी हो जाती है।[7]

आधुनिक युग में व्यक्ति, समाज, विज्ञान, इतिहास– ये सब किसी–न–किसी रूप में एक दूसरे से संबंधित हुए और इन सबने मिलकर एक आधुनिक ढांचा बनाया। इन चीजों से एक बड़ी शर्त, एक बड़ी धारणा पैदा हुई– सेक्युलर। यह धारणा पश्चिम में चर्च और धर्म से टकराहट के परिणामस्वरूप पैदा हुई। चाहे यह जहां से पैदा हुई हो और चाहे इसे जो नाम दिया जाए – धर्मनिरपेक्ष, पंथनिरपेक्ष या सेक्युलर– इसके बिना मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य को पढ़ना संभव नहीं है। इस तरह, धार्मिक को सेक्युलर ने अपदस्थ किया और आज अगर कोई रचनाकार या रचना सेक्युलर को अपदस्थ कर धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों पर अपनी संवेदना का निर्माण करती है तो आधुनिक युग में भी यह मध्ययुगीन होगी। इसी तरह मध्ययुगीन साहित्य खासकर भक्ति साहित्य में ऐसे बहुत से प्रसंग हैं जिनका मतलब धर्म से बिल्कुल नहीं है। उदाहरण के लिए मैं राम–वनगमन प्रसंग को लूं तो इस प्रसंग को तुलसीदास और तुलसीदास से पहले वाल्मीकि ने जिस तरह से उठाया है – वह पूरा नाटक है। भयंकर और त्रासद नाटक। ब्रह्म, धर्म, भक्ति वहां कुछ भी नहीं है। (तुलसी ने यद्यपि उसे एक दैवीकरण से जोड़ दिया है) लेकिन वाल्मीकि के यहां तो यह बात बिल्कुल साफ है कि राजनीतिक कारणों से राम को चौदह वर्ष का बनवास देने की मांग की थी कैकेयी ने क्योंकि चौदह वर्षों में सत्ता पर भरत की पकड़ मजबूत हो जाएगी और फिर लौटने के बाद भी राम कुछ नहीं कर पाएंगे। लेकिन यहां भी हम देखते हैं कि दशरथ कैकेई के सामने

बहुत दयनीय हो जाते हैं और बहुत स्पष्ट रूप में तो नहीं लेकिन एक संकेत के रूप में तुलसीदास में भी आ जाता है कि कैकेयी का सौंदर्य और दशरथ की कामुकता उनकी कमजोरी का कारण है। दूसरी बात कि सौतिया डाह के रूप में पारिवारिक कारण भी इसके पीछे हैं और राजमाता बनने की कैकेयी की महत्वाकांक्षा के रूप में वैयक्तिक कारण भी। ये सारे कारण बिल्कुल ठोस और भौतिक हैं। इन कारणों के चलते दशरथ एक ऐसी त्रासद एवं विडंबनापूर्ण स्थिति में पड़ जाते हैं जिसका जवाब उनके पास नहीं हैं, जिनका जवाब कोई विचारधारा–दर्शन नहीं दे सकता। इसलिए रामचरितमनास में से अगर आध्यत्मिक और ईश्वरीय प्रसंग निकाल भी दिए जाएं तो भी इसमें कई महत्वपूर्ण प्रसंग ऐसे हैं जिनके स्रोत जीवन में हैं और जिनकी बदौलत इसे दुनिया के महान साहित्य में गिना जा सकता है।[8]

आधुनिक विद्रोही कविता और भक्तिकालीन कविता की अंतर्वस्तु में सिर्फ इतना ही तो फर्क है कि एक की अंतर्वस्तु आध्यात्मिक है और दूसरे की भौतिक। लेकिन दोनों का फंक्शन क्या है? समाज, इतिहास, राज्य, मनुष्य के जीवन में दोनों की जो फंक्शनिंग है, दोनों का जो व्यापार है वह तो एक ही है। इसलिए मुझे इसकी उत्तर–आधुनिक व्याख्या की नीयत में खोट लगता है।[9]

एक और बात जिस पर भक्तों की बहुत आलोचना की जाती है वह यह कि भक्तों का भगवान अपनी मर्जी का मालिक है। वह जो चाहे कर सकता है। उसकी कृपा के बिना कुछ भी संभव नहीं। भक्ति बिना कृपा के नहीं मिल सकती– यह हर भक्तिधारा में विद्यमान है। भक्त दार्शनिकों ने कृपा की महिमा पर बहुत बल दिया है। लेकिन भगवान के बिंब का यदि ऐतिहासिक अध्ययन किया जाए तो वह कभी भी अपनी मर्जी का मालिक नहीं रहा। लेकिन इसी युग में ऐसा हुआ कि वह लंगड़े को पर्वत चढ़ा देगा, रंक को राजा बना देगा, अंधे को सब कुछ दिखा देगा या जिंदगी भर जो धर्माचरण करे, उसे नरक दे देगा और एक बार भगवान का नाम लेने वाले को स्वर्ग दे देगा। तो भगवान का यह जो बिंब है, व केवल मध्ययुग में ही हो सकता था और उसका जो कारण मुझे दिखाई देता है, वह यह कि सामंती समाज में सामंत अपनी मर्जी का मालिक था। वह जो कह दे वहीं न्याय, धर्म और सब हो जाता था। वह सामंती बिंब को तोड़ने के लिए किया जा रहा है।[10] अतएव रामविलास शर्मा के शब्दों में कह सकते है भक्ति–आंदोलन से जो भावात्मक एकता स्थापित हुई, उसमें जितना फैलाव था, उतनी गहराई भी थी। यह एकता समाज के थोड़े से शिक्षित जनों तक सीमित नहीं थी। संस्कृत के द्वारा जो राष्ट्रीय एकता कायम हुई थी, उससे यह भिन्न थी। भक्ति–आंदोलन एक ओर अखिल भारतीय आंदोलन था, दूसरी ओर वह प्रदेशगत, जातीय आंदोलन भी था। देश और प्रदेश एक साथ, राष्ट्र और जाति दोनों की सांस्कृतिक धाराएं एक साथ। भक्ति–आंदोलन की व्यापकता और सामर्थ्य का यही रहस्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. न्यू लिट्रेरी हिस्ट्री वा0 VII सं0–1, 1975 पृ0–103.
2. मैनेजर पाण्डेय– साहित्य और इतिहास दृष्टि पृ0–87.
3. कृश्णदत्त पालीवाल–भक्तिकाव्य से साक्षात्कार पृ0–9.
4. उपरिवत, पृ0–29.
5. डॉ अभय शुक्ल–भक्तिकाल और हिन्दी आलोचना पृ0–207.
6. उपरिवत, पृ0–208.
7. डॉ0 अजय तिवारी–तुलसीदास एक मूल्यांकन पृ0–29.
8. उपरिवत, पृ0–30.
9. उपरिवत, पृ0–38.
10. उपरिवत, पृ0–39.

*****